Inspira- Journal of Modern Management & Entrepreneurship (JMME)
ISSN : 2231–167X, Impact Factor : 2.0778, Volume 07, No. 01, January, 2017, pp. 333-336

लोकतन्त्र के क्षेत्र में प्राचीन भारत का योगदान (अर्थशास्त्र व रामायण काल के विशेष संदर्भ में)

डॉ. तृप्ति अग्रवाल*

सारांश

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों उपलब्ध लोकतांत्रिक विचारों के व्यवस्थित अध्ययन के द्वारा इस पूर्वाग्रह पूर्ण मान्यता का निराकरण किया जा सकता है कि 'लोकतन्त्र के क्षेत्र में प्राचीन भारत का कोई योगदान नहीं हैं।' यह पूर्वाग्रह सम्भवतः इस तथ्य का कारण भी है व परिणाम भी कि उपलब्ध प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के इस पक्ष के सम्बन्ध में समुचित अनुसंधान कार्य का प्रायः अभाव रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में यंत्र तंत्र बिखरे हुए राजनीतिक विचारों को संकलित करने के जो प्रयास स्वयं भारतीय विद्वानों द्वारा किए गए हैं, उनमें भी लोकतन्त्र को केन्द्र मानकर उसे स्वतन्त्र रूप से अध्ययन का क्षेत्र नहीं बनाया गया है।

भूमिका

भारतवर्ष में सृष्टि का आरम्भ कृतयुग (सत्ययुग) से माना जाता है। भारतीय ऋषियों ने कृतयुग को कल्याणकारी माना है। कृतयुग की प्रजा धर्मनिष्ठ, सदाचारी और ब्रह्मज्ञानी थी। प्रजा अपनी रक्षा पारस्परिक धर्म का पालन करके करती थी। वह विशुद्व कल्याणकारी युग था। प्रजा के वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए किसी राजा की आवश्यकता नहीं थी। कल्याणकारी स्वरूप पराकाष्ठा पर था। यह कल्याणकारी भाव किसी ब्राह्य शक्ति के भय से नहीं वरन् विद्या त्याग तपस्या तथा कल्याणकारी दैवी नियमों के ज्ञान रूपी आंतरिक शक्ति से प्रेरित होकर मानसी प्रजा ने स्वतः अपनाया था। प्रत्येक जीव में कल्याणकारी भाव की स्थापना हुई थी। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य का कल्याण हो सकता था। भ्रष्ट्राचार जैसी कोई समस्या शासकों के समक्ष नहीं थी।

राजा व उच्चपदाधिकारियों के सद् आचरण द्वारा लोक कल्याण

कहावत है 'यथा राजा तथा प्रजा' दूसरे शब्दों में प्रजा राजा के गुणों का अनुकरण करती हैं। यह बुद्वि का नियम है कि वह प्रतिभाशाली व्यक्तियों से शिक्षा ग्रहण करती है यदि उच्च वर्ग सदाचारी और त्यागी है तो मध्यम और निम्न वर्ग भी वैसा ही होगा।[1] राजा और शासन व्यवस्था की आवश्यकता समाज को तब पड़ी जब मनुष्य के ज्ञान का ह्यस था और अपराधों का उदय हुआ। अधर्म के शमन के लिए राजा की आवश्यकता बताई जाती है। भारतीय शास्त्रों में धर्म को राजा का राजा बताया गया है। यही कारण है कि वैदिक काल में कल्याणकारी व्यवस्था स्थापित करने हेतु राजा नियम–निर्माता नहीं माना जाता था वरन् राजा भी वैदिक नियमों का पालन करने वाला था।

अर्थशास्त्र में लोकतान्त्रिक चेतना

अर्थशास्त्र राजनीतिक प्रकृति का ग्रन्थ है। इसकी रचना का उददेश्य राजा की सुरक्षा व शक्ति में वृद्धि करना है। इसी उददेश्य को साहस मानकर राजा को राष्ट्र की आन्तरिक एवं ब्राह्य क्षेत्र में सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा आन्तरिक एवं ब्राह्य चुनौतियों से परराष्ट्र की रक्षा के लिए कूटनीति को अपनाने की अनुमति दी है। उसकी मान्यता है कि साध्य के पवित्र होने पर साधन भी नैतिक माने जाते है। अर्थशास्त्र मूल रूप से राजनीतिक प्रकृति का ग्रन्थ है लेकिन कौटिल्य ने मनुष्यों से युक्त भूमि और मानवीय कृतियों को अर्थ की संज्ञा दी है। कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र वह शास्त्र है, जिसमें राज्य प्राप्ति और फलन के उपायों का वर्णन हो।[2] उददेश्य की दृष्टि से अर्थशास्त्र राज्य के कल्याणकारी स्वरूप को प्रतिपादित करता उसमें राज्य के हितों की अपेक्षा राज्य के उददेश्यों और प्रकृति की व्याख्या की गई है। कौटिल्य ने प्रजा को प्रसन्न रखना राजा का प्रथम कर्त्तव्य माना है। उसने राजा को निर्देश दिए है कि

* पूर्व सहायक आचार्या, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, त्रिवेणी नगर, जयपुर, राजस्थान।

उसके अपने कोई हित या सुख अथवा अभीष्ट नहीं होने चाहिए वह तो प्रजा की सुख–सुविधाओं एवं प्रजा के अभीष्ट की व्यवस्था करने वाला व्यवस्थापक मात्र है। उस विराट् प्रजा के कुशल क्षेम के लिए किन–किन साधनों की आवश्यकता है, उसके संगठन व व्यवस्था का समस्त उत्तरदायित्व राजा पर है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा है कि प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आप को अच्छे लगने वालो कार्यो को करने में राजा का हित नहीं बल्कि उसका हित तो प्रजाननों को अच्छे लगने वाले कार्यो के सम्पादन करनें में है। इसलिए राजा को चाहिए कि उद्योगशील होकर वह व्यवहार सम्बन्धी तथा राज्य सम्बन्धी कार्यो को उचित रीति से पूरा करें।

राजा की नियुक्ति

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने सामाजिक अनुबन्धवाद के सिद्वान्त को माना है। उसने एक स्थान पर कहा है कि राज्य से पूर्व समाज में मत्स्य न्याय फैला था। इस अवस्था से तंग आकर लोगों ने विवस्वान के पुत्र मनु को अपना राजा बना लिया। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रजा के नीति सम्पन्न होने पर किसी कारण वश राजा का अभाव हो जाने पर राज्य ठीक ढंग से चलता रहता है। अयोग्य व्यक्ति को राजा बनाने की अपेक्षा किसी को राजा ने बनाना अच्छा है। अयोग्य राजा से राज्य को पंचायती राज्य (प्रजातान्त्रिक व्यवस्था) का रूप देना श्रेयस्कर है। राजा बनाने के लिए कोई उपयुक्त व्यक्ति न मिले तो राजा बनाने की योग्यता तथा अधिकार रखने वाले सुशिक्षित जनमत का अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि राजतन्त्र को अपने ही हाथों में रख लोकतन्त्र की स्थापना करें।

राजा के अस्तित्व का प्रयोजन व संप्रभुता

कौटिल्य ने राजा की उत्पत्ति के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया है कि राजा एक निशिचित प्रयोजन को पूरा करने के लिए अस्तित्व में है। अतः वह प्राकृतिक संस्था नहीं है। कौटिल्य के अनुसार राजा का उददेश्य प्रजा की सुरक्षा व उसके कल्याण को सुनिश्चित करना है। कौटिल्य ने ज्ञान या विद्या की विभिन्न शाखाओं के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट किया है कि राजा का उददेश्य व्यक्तियों के लौकिक और पारलौकिक, नैतिक व भौतिक उददेश्यों की पूर्ति तथा उनके मध्य न्याय–सम्मत सन्तुलन को बनाए रखना है। इन प्रयोजनों की पूर्ति सही ढंग से, आन्वीक्षिकी से निर्देशित होकर ही की जा सकती है। इस प्रकार कौटिल्य प्रजा के सर्वांगीण कल्याण तथा समाज में न्याय के सिद्धान्तों को लागू करने को राजा के अस्तित्व का मुख्य आधार मानते है।

राजा पर नियन्त्रण

कौटिल्य ने राजतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया। उन्होने राजा को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की हैं किन्तु राजा की निरंकुश सत्ता का समर्थन नहीं किया। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि राजा का अनुशासित रहना राज्य और प्रजा दोनो के हित के लिए आवश्यक है राजा द्वारा शक्ति के प्रयोग को नियन्त्रित और मर्यादित करने के लिए कौटिल्य ने अनेक प्रकार के नीतिगत, संस्थागत, प्रक्रियागत व व्यवहारिक उपायों का सुझाव दिया है। कौटिल्य ने स्पष्ट कर दिया है कि शासक का मर्यादित व अनुशासित रहना राज्यसत्ता का आधार है।[3] कौटिल्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि शासक, दण्ड की शक्ति का दुरूपयोग करता है, अथवा अपने दायित्वों का पालन नहीं करता है तो वह स्वयं भी दण्डनीय होता हैं।[4] कौटिल्य के अनुसार शासन की शक्ति अकेले राजा में निहित नहीं है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि राजा को अपनी शक्ति का प्रयोग मंत्रियों के परामर्श से ही करना चाहिए। वे राजा को मंत्रियों के परामर्श की अवहेलना करने के गंभीर दुष्परिणामों के प्रति सचेत करते है। कौटिल्य ने शासक को जनमत के महत्व के प्रति सचेत किया है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि यदि शासक जनमत की अवहेलना करता है, अथवा जनता के विरूद्ध दण्ड की शक्ति का दुरूपयोग करता है तो प्रजा उससे संतुष्ट हो जाती है। मनु के विपरीत कौटिल्य ने तो राजा द्वारा अपने दायित्वों का पालन न किए जाने पर अथवा उसके द्वारा शक्ति का दुरूपयोग किए जाने पर, प्रजा को राजा का परित्याग कर देने का अधिकारी भी प्रदान किया है। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि 'निरंकुश राजा की अपेक्षा राजा का आश्रय नहीं प्राप्त होना ही अच्छा है।'[5] कौटिल्य ने जनता के लिए राजा के धर्म विरूद्ध कार्यो का अनुमोदन करना या उसके धर्म–विरूद्ध आदेशों का पालन करना आवश्यक नहीं माना है।[6]

कौटिल्य के अनुसार समस्त रोषों में सबसे भयंकर रोष (प्रकोप) प्रजा का रोष होता है। मंत्रियों, राज्यकर्मचारियों, प्रजा में राजा के विरूद्ध रोष उत्पन्न हो जाना समस्त अनर्थो से भयंकर है। प्रजा का कल्याण राजा का आत्मकल्याण तथा प्रजा की रक्षा उसकी आत्मरक्षा है। प्रजा के कल्याण से अलग राजा का कल्याण या प्रजा की रक्षा से अलग राजा की रक्षा नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्रजा के अस्तित्व से अलग राजा का कोई अस्तित्व नहीं है। वास्तव में राजा प्रजा का ही प्रतीक है। कौटिल्य ने राजा का अस्तित्व प्रजा के कल्याण के लिए स्वीकार किया है। उसने निर्देश दिया है कि राजा का प्रथम कर्त्तव्य प्रजा को प्रसन्न रखना है। उसका कथन है कि राजा का अपना कोई हित या सुख अथवा अभीष्ट नहीं होना चाहिए। वह तो प्रजा की सुख–सुविधाओं एवं प्रजा के अभीष्टों की व्यवस्था करने वाला एक व्यवस्थापक मात्र है। राजा द्वारा धर्म एवं प्रजा की रक्षा करने सम्बन्धी उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने अन्य स्थल पर कहा है कि धर्म के साथ प्रजा की रक्षा करना राजा का अपना धर्म है, इसी से राजा को

स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता या पीड़ा पहुँचाता है उसको मिथ्याभाषी पुरूष के बराबर दण्ड देना चाहिए।[7]

रामायण में लोंकतान्त्रिक चेतना

महाकाव्यों में रामायण राजनीतिक व्यवस्था व चिन्तन के विशिष्ट पक्षों पर एक स्वतन्त्र व मौलिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती है। रामायण भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में अपने विषय का एक महत्वपूर्ण महाकाव्य है। उददेश्य की दृष्टि से रामायण राज्य के कल्याणकारी स्वरूप को प्रतिपादित करती है। साथ ही लोकतान्तिक चेतना का निर्वाह करने वाले राजनीतिक दायित्वों का, कथानकों व पात्रों के चरित्र द्वारा बहुत ही यथार्थ चित्रण उपलब्ध होता है। रामायण में प्रजा को प्रसन्न रखना राजा का प्रथम कर्त्तव्य माना गया है। वाल्मीकि द्वारा रामराज्य के चित्रण में राज्य में लोकतान्त्रिक चेतना के स्पष्ट प्रमाण मिलते है। अनेक उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि प्रजा का भौतिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक व आध्यात्मिक कल्याण राजा का दायित्व माना है। राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न आयामों तथा राजा उसकी विभक्ति कर्त्तव्य आदि शासन–व्यवस्था से सम्बन्धित प्रसंग रामायण में उपलब्ध होते है। रामायण में वर्णित सामाजिक व्यवस्था तथा न्याय व दण्ड पद्धति के आधार पर राज्य का आदर्श स्वरूप स्पष्ट होता है। रामायण में शासन का प्रमुख राजा को माना गया है लेकिन वह निरंकुश नहीं है। राजपद के लिए आवश्यक योग्यताओं को ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। रामराज्य सुराज तो था ही उसे स्वराज्य भी कह सकते है। उसका प्रभाव सभी जनों तक पहुँचने वाला था। सभी व्यक्ति तीनों प्रकार के तपों (कष्टों) से अछूते थे 'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा रामराज्य नहीं काहुहि व्यापा।' समस्त आयोध्यावासी स्वस्थ थे कहीं भी कोई दरिद्र, दुःखी व हीन नहीं दिखाई देता था। सभी उदार और परोपकारी थे और स्त्रियां पतिव्रता थी। नगर के सभी लोग प्रसन्न थे और देव, दुर्लभ भोगों को भोगते थे।[8]

राजा की नियुक्ति

यह अवश्य है कि रामायण काल तक राजा का पद आनुवांशिक बन गया था और सम्भवतः निर्वाचन की प्रथा भी बहुत कुछ अर्थो में अपना पूर्ण सत्ता सम्पन्न रूप खो चुकी थीं, किन्तु समाज में विद्यमान यह धारणा कि राजा बनाए जाते हैं और उन्हें प्रजा बनाती है – इतनी प्रबल इतनी दृढ़ थी कि राजा इस परम्परा की अवहेलना नहीं कर पाते थे। वाल्मीकि तथा तुलसीदास जी दोनों ने ही राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तो को माना है – प्रथम ज्येष्ठता का अर्थात राजा का ज्येष्ठ पुत्र होना जिसे हम एक प्रकार का आनुवांशिक सिद्धान्त कह सकते है। द्वितीय चारित्रिक गुणों का होना अर्थात् राजपद के लिए योग्यता। तृतीय, प्रजा अथवा उनके प्रतिनिधियों की अनुमति। राजा दशरथ ही नही अवधपुरी की सारी प्रजा भी राम पर इतनी मुग्ध थी कि वह राम को राजा के जीवनकाल में ही युवराज पद दे देना चाहती थी। इन दोनो आधारों के अतिरिक्त तुलसीदास के अनुसार भी राम को युवराज पद प्रजा की अनुमति से ही दिया जाता है।[9] आयोध्याकाण्ड के प्रथम और द्वितीय सर्ग युवराज के निर्वाचन से सम्बन्धित है। उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि राजा का निर्वाचन निरंकुश इच्छा का परिणाम नहीं था वरन् जिस तरह लोकतन्त्र में जन–इच्छा से सरकार का निर्माण होता है उसी तरह यह भी जनादेश की अभिव्यक्ति थी। राजा दशरथ ने सभासदों पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला था। सभासदों को अपना मत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। राम को युवराज बनाने का विचार दशरथ के मन में इसलिए नहीं आया कि राम दशरथ के प्रिय पुत्र है अपितु इसलिए आया क्योंकि प्रजापालन के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति राम ही थे और प्रजा राम को राजा बनाना चाहती थी।[10]

अन्तःपुर के षड्यन्त्रों के कारण राम को राज्य का त्याग करना पड़ा राम अपने पिता को सत्यप्रतिज्ञ बनाने के लिए वन को चले गए। राम वनगमन को सुनकर सभी प्रजाजन व्यथित हो उठे और दशरथ की निन्दा करने लगे।[11] प्रजा द्वारा राजा की खुलेआम निन्दा किया जाना प्रजातान्त्रिक चेतना का ही प्रमाण है, यह राजतन्त्र में कदापि सम्भव नहीं था। राजतन्त्र में राजा कितना ही अत्याचारी हो प्रजा उसके विरूद्ध आवाज नहीं उठा सकती। लेकिन जिस प्रकार प्रजा ने दशरथ को खुले आम धिक्कारा उसे देखते हुए रामायण में राजतन्त्र नहीं कहा जा सकता। राजा की निन्दा करने का साहस और अधिकारी जनसाधारण को प्रजातन्त्र में ही हो सकता है। इस प्रकार रामायण में युवराज निर्वाचन की घटना का ठीक–ठाक विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि रामायण में प्रजातान्त्रिक चेतना विद्यमान थी।

राजा के कार्य

वाल्मीकि और तुलसी दोनों के अनुसार राजा का प्रमुख कर्त्तव्य धर्म का पालन और प्रजानुरंजन है। राजा दशरथ ने बताया कि जो राजा प्रजा से प्रेम करता हुआ और प्रजा को अपनी अनुरागिणी बनाता हुआ राज्य पालन करता है, उसकी प्रजा मित्र होकर आनन्दित रहती है।[12] कर के सम्बन्ध में वाल्मीकि का मत यह है कि राजा का प्रजा से उपज का छठा भाग कर के रूप में लेना उचित है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने कहा है कि चित्रकूट प्रसंग में श्री राम, भरत से कहते है कि राजा जो भी कर प्राप्त करे उसे अपने हित में प्रयोग न कर सम्पूर्ण प्रजा के हित में लगाएं। कर उचित मात्रा में ही लिया जाना चाहिए। राजा को सूर्य के समान अप्रत्यक्ष कर लेना चाहिए और आय को प्रजा के हितकर कार्यो में लगाना चाहिए।

राजा पर नियन्त्रण

रामायण काल में राजा निरंकुश और व्यसनी होकर नहीं रह सकता था। प्रथम तो राजा स्वयं ही प्रजापालन में संलग्न रहते थे, प्रजा हित के विरूद्ध कोई कार्य नहीं करते थे किन्तु यदि राजा ने कभी प्रजाहित में प्रमाद किया भी तो ऐसे राजा को प्रजा के हाथों दण्डित होना पड़ा। रामायण काल में राजा निरंकुश नहीं हो सकता था और प्रत्येक कार्य करने से पहले राजा को प्रजा की अनुमति लेनी पड़ती थी। प्रजा की इच्छा को राजा गुप्तचरों द्वारा पहले ही जान लेता था। प्रजा द्वारा आन्दोलन करने की परिस्थिति ही नहीं आती थी। राजा को प्रजा के आक्रोश, अनिच्छा आदि से आतंकित रहना पड़ता था। रामायण में उल्लिखित राजा दशरथ, राम व जनक आदि राजाओं की शासन व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा संचालित राजनीतिक व्यवस्था से प्रजा सन्तुष्ट व सुखी थी। यद्यपि रावण एक अनार्य जाति का प्रतिनिधि शासक था। समस्त राजनीतिक शक्तियाँ उसके पास थी। दुष्टता व धूर्तता की अवधारणा उसके साथ जुड़ी थी। लेकिन फिर भी वह आन्तरिक प्रशासन व राजनीतिक दृष्टि से प्रजा के सन्दर्भ में निरंकुश नहीं था, लंका पूर्णतः समृद्ध थी।

रामायण के अध्ययन से स्पष्ट है कि राजा को परामर्श तथा राज्य–कार्यो के संचालन में सहायता देने हेतु मंत्री, पुरोहित तथा सभासद थे, रावण के भी मंत्री थे, यद्यपि वह अपने मंत्रियों का सत्परामर्श क्रोधावस्था व पर–राष्ट्र सम्बन्धों के निर्वाहन में यदा–कदा नहीं भी मानता था लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह निरंकुश था। रामास्वामी शास्त्री का कथन है कि वाल्मीकि के काल में राजतन्त्र सीमित और सांविधानिक था। एक ओर वह धर्म शास्त्रों से सीमित था और दूसरी ओर मंत्रिमण्डल व सभा की शक्तियों से सीमित था। यदि राजा धर्मशास्त्रों के विरूद्ध कार्य करता और अपनी प्रजा को सताता था तो उसे निष्कासित किया जा सकता था या मारा भी जा सकता था।[13] रावण भी लोक निन्दा से बचा रहना चाहता था। जब उसने हनुमान का वध करने का आदेश दिया तब बड़े ही विनम्र भाव से विभीषण ने उसे याद दिलाया कि दूत का वध करना लोक–दृष्टि से एक निन्दित कार्य है। [14] तब रावण ने भी हनुमान के वध का विचार बदल दिया था। इसी प्रकार लोक–निन्दा से बचने के लिए राम ने सीता को त्याग दिया था। रामायण में उपलब्ध वर्णनों में शासन के मर्यादित राजतन्त्रात्मक स्वरूप का आभास मिलता है। जनपदीय राजाओं की सतर्कता तथा राजकीय उत्तरदायित्वों के उचित निर्वहन के कारण राजतन्त्र की संस्था को जनमानस में ऊँचा स्थान प्राप्त था। रामायण के वर्णनों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काल में लोकतान्त्रिक चेतना पर आधारित राजतन्त्र स्थापित हो चुके थे। प्रजा अपनी सुरक्षा और भलाई के लिए राजा के प्रति आश्वस्त थी। रामायण काल में जनता राजा से भयभीत नहीं थी। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रामायण काल में राजा जनमत के प्रति संवेदनशील था और राजा की इच्छा के ऊपर जनता की इच्छा को वरीयता दी जाती थी। अतः सच्चे अर्थो में लोकतान्त्रिक चेतना पर आधारित शासन विद्यमान था।

संदर्भ ग्रन्थ

1. महाभारत अनशासन पर्व अ. 145 पृ. 5948
2. अर्थशास्त्र 15/1
3. चाणक्य प्रणीत सूत्र, 5
4. अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 53
5. चाणक्य प्रणीत सूत्र,14
6. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, अध्याय छः 56–57
7. अर्थशास्त्र, अधिकरण, 3/1
8. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार व संस्थाएं। 7
9. आयोध्याकाण्ड, 4:7
10. आयोध्याकाण्ड, 1, 34
11. आयोध्याकाण्ड, 41–6
12. आयोध्याकाण्ड, सर्ग 3
13. के. एस. रामास्वामी शास्त्री, स्टडीज इन रामायण
14. सुन्दरकाण्ड, 52/63

□□□